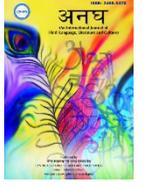




अनघ (An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



अनुवाद की

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

सेवानिवृत्त प्रोफेसर,

भारतीय भाषा केंद्र,

भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

अनुवाद की प्रासंगिकता एक निर्विवाद विषय है तथापि आज हम प्रासंगिकता के कुछ नये बिन्दुओं की उन्खनन कर, विमर्श का नया आधार खोजने की दिशामें काम करेंगे।

पहले विचार करें कि भारत में पश्चिमी अनुवाद जैसी परंपरा का विकास क्यों नहीं हुआ ? क्या हम इतने पिछड़े हुए थे कि हमें अनुवाद के बारे में ज्ञान नहीं था ? क्योंकि आज उन भाषाओं को पिछड़ा कहने से नहीं चूकते जिनमें अन्य भाषाओं से अनुवाद नहीं होते। उदाहरण के लिए लेपचा भाषा का उल्लेख कर कहा जाता है कि ऐसी भाषाएँ विश्व में अग्रगामी होने से पिछड़ गई हैं। क्या यह अवधारणा सही है ? इससे हम अनुवाद के क्षेत्र में राजनीति जैसी अवधारणा के सक्रिय होने का आभास पाते हैं क्योंकि अनुवादन उपलब्ध न होने के अन्यान्य अन्य कारण हैं। प्रथम तो किसी भाषा को राज्य से दर्जा न मिलने के कारण, अर्थात् राजकीय स्वीकृति के अभाव में समूचे प्रदेश में निकसने की स्वतंत्रता नहीं होती फलतः ऐसी भाषाएँ धीरे-धीरे बोली के रूप में संकुचित हो जाती हैं। सिन्धी जैसी भाषा का उदाहरण इस प्रसंग में प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वतंत्रता से पूर्व सरामिकी जैसी समुन्नत भाषा की तरह सिन्धी का भी फैलाव हिन्दुस्तान में था किंतु भारत और पाकिस्तान बनने के बाद सिन्धी पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त की भाषा व भारत

में राज्यविहीन हो गई। भारत में संभवतः तत्कालीन विद्वानों ने उसे आठवीं अनुसूची में तो रखा किन्तु सिन्धी भारतीय मुद्रा यानी नोट अर्थात् रुपये में नागरी लिपि में तो सुरक्षित मानी गई परंतु उसका कोई प्रान्त भारत में नहीं रहा। पाकिस्तान में वह मुस्लिमकार अली भुट्टो के प्रदेश सिंध की तो भाषा जन भाषा के रूप में कही परंतु उसे उर्दू या फारसी या अरबी हफों में भी कोई सरकारी राज्यीय स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई। हालाँकि उर्दू लिपि में लिखी भाषा पाकिस्तान की राजभाषा हुई। सिंध प्रान्त (पाकिस्तान में) वह पूरे प्रान्त में हिन्दू और मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त थी किन्तु प्रान्तीय भाषा उर्दू स्वीकार की गई और सरकारी कामकाज में भारत की तरह अंग्रेज़ी का प्रयोग होता रहा। गुलामी की यह जंजीर पाकिस्तान और भारत राजनैतिक आज़ादी प्राप्त करने के बाद भी नहीं तोड़ पाये। गाँधी जी के अकथ प्रयत्नों के बावजूद खुद उनके संबंधी राजगोपालाचारी व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति न प्राप्त करने के कारण हिन्दी विरोधी हो गए। अंग्रेज़ी में निष्णात होने के कारण वे अन्य भारतीयों की तरह घोर हिन्दी विरोधी बन गए और उन जैसे कांग्रेसी राजनेता की तर्ज पर तमिलनाडु का राजनैतिक विवेक हिन्दी विरोधी हो गया और उसने संस्कृत बहुल भाषाओं के राजनेताओं को भी हिन्दी विरोधी बना डाला। यही नहीं पक्ष और विपक्ष के तमिल नेताओं ने संस्कृत विरोध का मूल सवाल फिर से जाग्रत करने में देर नहीं लगाई। दुर्भाग्य है कि यह स्थिति

प्रान्तविहीन भाषाओं में प्राण संचार नहीं कर सकी अतः कहना पड़ेगा कि छोटी भाषाओं में अनुवाद का अभाव एक राजनैतिक कारक है।

भारत में अनुवाद की गतिविधि का आधुनिक रूप तो आधुनिक समय के प्रभाव से आच्छादित है किन्तु एक बहुलतावादी, बहुभाषी देश होने के कारण वह एक परस्पर अनेक राज्यीय इकाईयों से निरन्तर संवादरत रहा है यह पश्चिम को चकित करता है और वे इसे अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इसी अविश्वास के कारण भाषिक अध्ययन के सभी पश्चिमी निष्कर्ष संदेह के घेरे में आते हैं। सबसे पहले पश्चिम से प्रभावित भाषा विदों से सवाल किया जा सकता है कि क्या पुनर्रचना की स्वतंत्रता एक बेहतर अनुवाद प्रकल्प साबित नहीं होता ? उस प्रारूप के समक्ष जो निरा शाब्दिक अनुवाद पर आश्रित है ? शाब्दिक अनुवाद और भाष्यात्मक अनुवाद दो भिन्न दृष्टियाँ हैं जो एकभाषी और बहुभाषी समाजों की आविष्कृतियाँ कही जायेंगी। थोड़ा गहरे सोचने की ज़रूरत है। सिर्फ़ इस दृष्टान्त से कि क्या कोई समाज जिसने ईसा पूर्व पाँच या सात हजार वर्ष पूर्व भाषा के स्तरीय स्वरूप का निर्माण किया होगा -- और वह बहुभाषी समाज रहा होगा -- उसे भाषाई रूपान्तरण का बोध न हो यह विश्वसनीय है ? भारत के उत्तर में और धुर दक्षिण में दो क्लासिकी भाषाओं की उपस्थिति यह तो दर्ज करती है कि भाषा का अनुशासन निष्चित रूप से उच्चकोटि का है और उसकी तुलना में पश्चिमी भाषाओं की वर्णमाला और विन्यासगत वृत्तियाँ अभी शैषव की स्थिति में दिखाई देती हैं -- यह स्पष्ट नहीं करता कि पश्चिम अनुवाद की, शाब्दिक अनुवाद की कोशिश में एक पिछड़े तौर के सोपान पर खड़ा है। ऐसी स्थिति में पूर्व और पश्चिम की तुलना केवल नये पश्चिमी परंपराओं के आधार पर करना यह स्वीकार करना नहीं है कि तीन सौ वर्षों का पश्चिमी अभिमान औद्योगिक क्रांति के कारण जो उड़ानें भर रहा है वे भले ही आज विस्मित करने वाली हैं, तथापि अन्य अनेक विमाओं की दृष्टि से वे मनुष्य जाति के पतन को खबरें देती हैं। इस अर्थ में कि प्रगति के चक्र ने मुनाफे की अवधारणा को सामने रखकर मनुष्य को मुनाफेदारी के कारनामों को साकार करने की ओर प्रेरित किया है। यह आज चाहे साफ़-साफ़ न दिखाई देता हो किन्तु दवा अन्वेषकों की वृत्ति कमाने की ओर ज़्यादा है। उस कमाने के हिसाब से मुनाफा कमाने के लिए ज़्यादा तर्कपूर्ण विज्ञापन और उससे जुड़े तंत्र का भरपूर उपयोग करने की स्वच्छन्दता को बढ़ावा देकर मनुष्य की स्वतंत्रता के मूल्य से खिलवाड़ करना है। यह केवल एक दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त से ज्ञान की जो दृष्टियाँ विकसित होती हैं वे भी संदेह के घेरे में आ जाती हैं। इस बारे में विस्तार से आगे विमर्श के लिए संभावनाएँ हैं। उन पर यथावसर विचार होगा।

निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि आधुनिक मनुष्य का काम अनुवाद के बिना नहीं चल सकता। बीसवीं शताब्दी में तो

अनुवाद की राजनीति के विस्मयकारी वृत्तान्त घटनाओं को रूप धारण कर अद्भुत प्रसंगों के रूप में देखे जा सकते हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त रहेगा। विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम में प्रथम दुनिया और दूसरी दुनिया अस्तित्ववान रही है। पश्चिमम यानी प्रजातांत्रिक देश और दूसरी दुनिया का अर्थ है साम्यवादी देश। पश्चिमी देश जो आविष्कार करते थे पाते थे उसका अस्तित्व सोवियत देश में भी है। अंतरिक्ष की प्रतियोगिता में वे कभी आगे तो वे कभी आगे दिखाई देते थे। उन दिनों पत्रकारीय गप्पों में वैज्ञानिक शोध पत्रिकाओं की जासूरी की कथाएँ प्रचलित थीं, सोवियत गणित शोध पत्रिका शीर्षस्थ थी किन्तु उसके लेख उसमें प्रकाशित होने से पहले वर्तानवी गणित शोध पत्रिका में प्रकाशित हो जाते थे। स्पष्ट है कि जासूसी की उन्नत विधियों का सहारा लेकर जासूस लोग गैलीप्रूफ के स्तर पर ही उस पत्रिका का वह अंश चुरा कर अंग्रेज़ी में प्रकाशित कर डालते थे।

अनुवाद का बीसवीं शताब्दी का इतिहास काफ़ी हद तक भाषाई स्तर पर विश्व राजनीति का एक हिस्सा है। भाषाई स्तर पर एक दृष्टि केवल अपने हिन्दुस्तानी होने की भी है। वह हिन्दुस्तानी होने का अर्थ है। भारतीय भाषाओं से जुड़ना और इस जुड़ाव से अभिन्नता की अनुभूति का विस्तार करना। अर्थात् बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भाषाएँ राजनीति का अंग बनी हैं और अनुवाद वृहदतर स्तर पर राजनीति का एक ऐसा रूप निर्मित हुआ है जिसके दूरगामी परिणाम सत्ताओं के स्थापन, विखंडन और महिमामंडन में ही नहीं दिखाई दिए बल्कि उसने भाषाओं के बीच भेद को ज़्यादा जगह दिलानी आरंभ की तथा तकनीकी स्तर पर कुछ भाषाओं के वर्चस्व को प्राथमिकता देते हुए उन्हें विश्व स्वीकृति की एक अनिवार्य स्थिति में रूपांतरित किया है। जबकि भारत में अन्तर्देशीय स्तर पर हिन्दुस्तानी का फैलाव और दूसरी समस्याओं को जन्म देना आरंभ किया।

साफ़ है कि भारत को अतीत में भी एक राजनैतिक हस्तक्षेप सहने के कारण जो अन्दरूनी दृढ़ता मिली उसे लोगों ने भारत की कमजोरी समझा किन्तु वह भारत के हिन्दुस्तान के रूपांतरण की कथा है। जिसका सुफल अनेक रूपों में भारतीय मानस में पोषित होता है। एक तो भारत ने अपनी आंतरिक गुणधर्म के कारण एक महत्तम शक्ति आत्मसातीकरण के रूप में प्राप्त की, फलत जो भी अनिवार्य था वह भारतीय होता गया। और उस वक्र के समीकरणों के अनुसार वैचारिक परिवेश में ढलते-ढलते किसी सैद्धांतिक आदर्श में पहचाना जाने लगा। इस प्रक्रिया को हम भाषायी प्रकरण में देखें तो हमारे निकटस्थ प्राचीन भाषाओं में पहलनी या उससे पूर्व जेन्द-अवेस्ता की भाषा के संस्कृत तथा परवर्ती भाषाओं से अंतःसंबंधों का सघन स्वरूप किस दिशाकी ओर संकेत करता है, इसके मोटे-मोटे अनुमानित सम्मिश्रण के अंश मिल जायेंगे जिनसे हम अपनी भाषाओं को समृद्ध करते रहते हैं। आश्चर्य ही होता है कि सदियों के बाद आज जब हम अपनी बन्दोवस्त की शब्दावली की ओर देखते हैं

तो उस पर फारसी प्रभाव इतना सघन है कि कह ही नहीं सकते कि यह विजातीय प्रभाव है बल्कि उसके धातु रूपात्मक अनुमान से नये शब्दों के निर्माण का कार्य अबाधगति से चलता रहता है। तथापि यह जिज्ञासा बनी रहती है कि ऐसी शब्दावली का व्यापक प्रयोग मध्यकाल में मराठा साम्राज्य में भी प्रचलित था। और तो और ऐसे अनेक शब्द जो संस्कृतियों के अन्तर्मिलन से निर्मित हुए हैं, अब हमारी अपनी भाषाओं में हमारी भाषाओं की प्रकृति के बन गए हैं और उनसे हम नित नवीन शब्दों का निर्माण करते रहते हैं।

यह एकान्तिक रूप से नहीं होता। सभी भाषाओं में यह प्रक्रिया सजग रूप से सक्रिय रहती है। नये निर्मित या नये आगत शब्दों में एक तरह का सार्वभौमिकत्व-सा आशय उनके अर्थों की प्रकृति में जीवित रहता है। शब्दों की यह प्राणवानता वाक्यों में नया रूप पाती है। इस नये रूप को हम विन्यासगत स्तर पर देखें तो चमत्कृत होंगे कि लगभग सभी भाषाओं में यह उपस्थित है। अर्थ मात्र इतना है कि एक सघन विन्यासात्मक विधान शब्दों से वाक्य निर्माण की प्रक्रिया में नियमन को उदीप्त करता रहता है।

भाषाओं का यह खेल विचित्र ही नहीं विस्मयकारी भी है। पश्चिम के लिए भारतीय विस्मयों की लंबी सूची है। इसमें अनेक चीजें शामिल हैं। भाषाएँ तो हैं पर यह चिन्ता भी कि क्या इनमें आपस में क्या कभी संवाद होता होगा? क्योंकि आज की तमिल या तेलुगु के प्रयोक्ताओं को भी यह याद नहीं होगा कि वे पड़ोस के ताल्लुके या ज़िले में जहाँ दूसरी ही भाषा बोली जाती होगी संवाद कैसे करते होंगे? उत्तर और दक्षिण की तो बात ही जाने दें। जाहिर है आज आसानी से हम अपने पुरखों को अनपढ़, आदिम, मूर्ख और असभ्य कह सकते हैं क्योंकि सभ्यता के परकोटों में हमें शिक्षा, चमक-दमक, राजनैतिक चाल बाजियाँ या अच्छी पोषाकें, आलीशान जीवन शैली दिखाई देती है। बस गुत्थी यहीं उलझी हुई है। केवल यह सोचें कि वे लोक कलाओं के अद्भुत अभ्यासी थे, शास्त्रीय कलाओं के आस्थावादी अनुरागी थे तथा माता शत्रु पिता बैरी मेन बालो न पाठते जैसे सिद्धांत के अनुरागी थे और महत्तम खोजों, महत्तम ग्रंथों की सूचनाएँ रखते थे। स्पष्ट है उस काल खण्ड की कला में विज्ञ थे और अपनी भाषाओं से दूसरी भाषाओं में जाने की कला जानते थे वे अनुवादापेक्षी नहीं थे क्योंकि मूल विचारों, स्थापनाओं, मंतव्यों को सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में जानते थे। यह एक बड़ा कारण है जिसने पश्चिम जैसी द्रुत शैली को विज्ञता के अनुशासनों में स्वीकार नहीं किया अपितु आत्मसातीकरण और सार्वभौमीकरण की तरह ही सृजनात्मक निर्माणीकरण को वस्तु के सर्वाधिक संप्रेषण का एकमात्र संवाहक मानते हुए पुनर्रचना को अनुवाद, शाब्दिक अनुवाद से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया। यही कारण है कि कथाकाव्यों को अनुवाद की बजाय पुनर्रचना द्वारा स्थानिकता के प्रयोग से पुष्ट कर अधिक संप्रेष्य बनाया जाए। अधिक

संप्रेष्य का विशेष प्रयोजन जन भाषा में किसी भी प्रदत्त पाठ के गुह्यार्थों का सार्वजानिकीकरण कहा जाए तो उचित होगा।

भारत की बुनावट को आप देखें तो यह अटकल लगाने में अधिक देर नहीं लगेगी कि यह निष्चित ही विचित्र महादेश है। हम वर्तमान राजनैतिक भारत की बात नहीं कर रहे हैं। यह तो पश्चिमी दृष्टिकोण का दुष्परिणाम है तथापि महत्तम प्राकृतिक नियमों की ओर देखें, जिन्हें आधुनिक विज्ञान तो देखता है किन्तु आधुनिक विज्ञान उसे पश्चिमी खोज मानता है, कई प्रसंगों में तो पश्चिम का अहंकार उसे पश्चिम के आविष्कार से जड़ देता है कि भारत में प्राकृतिक परिघटना मानसून पश्चिम का आविष्कार है। यह मानने से पश्चिम का मस्तिष्क इंकार करता है कि मानसून एक प्राकृतिक नियमन है और वह वैज्ञानिक कारणों, आधारों और प्रक्रियाओं से परिचालित है। यह प्रचालन न आकस्मिक है न इसे किसी प्रकार का मानव बल रोक सकता है। यह प्राकृतिक परिघटना भारत महादेश में घटती है जो एशिया महाद्वीप का हिस्सा है और भारत उपमहाद्वीप के रूप में जाना जाता है। मोटे तौर पर यह क्लासिकी भाषाओं का गढ़ है जो आपस में हमेशा टकराती हैं। इस टकराहट का संवाद अनुवादन में पूर्णता नहीं पाता। असली गुत्थी यही है। कारण कि उपमहाद्वीप की असंख्य भाषाएँ उसकी लोकवाणी से संपन्न होती हैं। यह लोकवाणी यदि एक इकाई मान ली जाए तो हम इसी से अनुमान या अटकल लगा सकते हैं कि इन भाषाओं में कोई आंतरिक एकता अवश्य होगी। उस आंतरिक एकता के सूत्रों का परिगणन कठिन नहीं है। स्थूल रूप से उसे हम वर्णाधार के मुख्य आधार से अंतः संबंधित पाते हैं। इसे सत्यापित करने वाला प्रमाण भी कहा जा सकता है। और इसके अस्तित्व से यह अटकल भी लगाई जा सकती है कि सभी भाषाएँ एक-दूसरे से अतःस्थिति के कारण जुड़ी हुई हैं।

एक स्थूल अनुमान यह भी लेना पड़ेगा कि सभी भाषाओं के वर्णों की ध्वनियों का नियमन उसे स्वर व्यंजन के रूप में विभाजित करता है। शब्दों की निसृति का व्याकरण विज्ञान सम्मत है क्योंकि ओष्ठ ध्वनियों के व्यंजनों का संगीत सर्वत्र एक जैसा होगा। अतः यह कहना बड़बोलापन या ज़्यादा हाँकना नहीं है कि शाब्दिक व्यंजनाओं का अर्थी परिगणन उन्हें एक ऐसी कोटि में निर्दिष्ट करता है जहाँ से हम कह सकते हैं कि हमारी लोकवाणी से नागरिक वाणी में रूपांतरण ही वह विधान है जहाँ से हम शब्दों में अर्थों की समानता के गुण प्राप्त करते हैं। आशय यह कि पश्चिम जैसी भाषिक अलगाव की स्थिति पूर्वी भाषाओं अर्थात् भारतीय भाषाओं में नहीं है। तथापि सृजनात्मक स्तर पर पुनर्रचना में न केवल ख्यात कथा के प्रामाणिक विवरण सुरक्षित रहते हैं अपितु कथा के अन्य पक्ष भी पुनर्रचना में अपनी स्थानिकता बनाए हुए विकसित होते रहते हैं। अब हम उड़िया का ही उदाहरण लें तो उड़िया भाषा में भारतीय मिथक की यथा तथ्य प्रामाणिक उपस्थिति है। और वह सर्वत्र एक जैसी है। उसके मिथकीय रूप में क्या-क्या चीजें उपस्थित होंगी यह स्वाभाविक ढंग से जाना जा सकता है क्योंकि कथा की सभी

बारीकियों से हम परिचित रहते हैं। इसी कारण उड़िया भाषा का विन्यास कथानुरूपता का ही पुनः प्रस्तुतीकरण है यदि हम उसकी पुनर्रचना की बारीकियों के संदर्भ में अध्ययन करें। आशय यह है कि भारत में पुनर्रचना एक वास्तविकता है। शाब्दिक अनुवाद उस तरह से स्वीकार्य नहीं है क्योंकि छोटे-छोटे वाक्यों में संवाद शैली की वार्ता का तो काम चल जायेगा किन्तु बड़े प्रश्नों के उत्तर नहीं बन पायेंगे। अतः इस बात पर विचार करना होगा क्या समतुल्य शब्द संप्रेषण के लिए पर्याप्त हैं या संपूर्ण संप्रेषण के लिए भी निर्वाचन पद्धति अधिक अनुकूल है ?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर उदारतापूर्वक विचार करना होगा। इसलिए भी कि सदियों से भारत के बहुभाषी चरित्र में परस्पर संवाद के लिए सभी प्रचलित भाषाओं के आश्रय को स्वीकार करने की पद्धति विद्यमान है। इसलिए यहाँ समतुल्य शब्दों की नुमायश की गुंजायश नहीं है, बल्कि सटीक और गुणधर्मी अभिव्यक्ति के लिए जैसा उन्नत बौद्धिक आधार चाहिए वही हमारी भाषाओं में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने के कारण किसी अतिरिक्त अभ्यास की आवश्यकता ही नहीं दिखाई देती। आधुनिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में अनुवाद के प्रश्न पर नये ढंग से सोचना एक ऐसा कार्य है जिसे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की भाँति प्राथमिकता देनी पड़ेगी। इससे हमारे अनेक ऐसे प्रश्नों का भी समाधान मिल जायेगा जो राष्ट्रीय जीवन में अनुत्तरित हैं। प्रजातांत्रिक आधारों में सर्वाधिक प्रयोग में आनेवाली भाषा के प्रति संदेह का बीज यही है कि कहीं कोई भाषा ऐसे पक्षों पर थोप न दी जाए तो अभी उस भाषा में पारंगत नहीं है। इसीलिए संविधान निर्माताओं ने एक समयावधि तय की थी। किंतु उस समयावधि के बीत जाने के बाद भी स्थिति में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया बल्कि प्रतिरोध का स्वर इतना प्रखर बना दिया गया कि आनुशांगिक समस्याओं के बारे में नीति निर्माताओं ने सोचना भी बन्द कर दिया। सामाजिक कारणों से अनेक किस्म की बाधाओं का जन्म होता है किंतु सामयिक कारण स्थायी नहीं होते। वे परिस्थितियों के कारण उभरते हैं व परिस्थितियों के ही कारण नष्ट भी हो जाते हैं। तथापि बहुभाषी समाजों में एक अपूर्व, उसे अपूर्व इसलिए भी कहेंगे कि वह कहीं दिखाई नहीं देती, प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है। वह अदृश्य रहती है इसलिए अपूर्व नहीं है बल्कि वह छोटी-छोटी भाषिक इकाइयों के बीच लोकानुरूप सार्वजनिकता का निर्माण करती रहती है। यह एक नैसर्गिक कार्य है। इस नैसर्गिक कार्य को भाषाओं के संदर्भ में ज़्यादा आसानी से समझा जा सकता है। भाषाएँ नैसर्गिक अर्थ में अपने निसर्ग का सृजन भी करती हैं और यहीं से सार्वजनिक होने की अर्थदायी गतिविधि पूर्णरूपेण सक्रिय रहती है। इस गतिविधि में एक भाषा के शब्द कब दूसरी भाषा में प्रवेश कर उस भाषा के बन जाते हैं किसी को याद ही नहीं रहता कि कल तक विदेशी लगने वाला शब्द एकदम अपनी भाषा के उच्चारण, अपनी भाषा की लोच और शैली में ढलकर एक दम अपनी देशज चाल से अपना बन जाता है। यह जबर्दस्त

आत्मसातीकरण की ताकत भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति ने अपने भीतर ऊर्जा के रूप में छिपाई हुई है और जब तब इसका रूपांतरण नये शब्द रूपों, नई शैलियों, नये छन्द-बन्दों, नये सांगीतिक विन्यास में उभर कर मुख्य धारा में आ मिलता है।

यह सिर्फ शब्दों और विन्यास तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि बड़े पैमाने पर एक नई संपर्क भाषा के गठन का मुख्य कारक भी बन आता है साथ-ही-साथ अपने अंतिम लक्ष्य में यह सैद्धांतिक उच्चता प्राप्त कर दर्शन या विचार का रूप धारण कर लेता है। हमारे देश ने ऐसे कवियों को पैदा किया है जिनकी वाणी भारतीय भाषाओं की इसी शक्ति को प्रदर्शित करती है व एक सर्वमान्य भाषिक संरचना के रूप में अपनी अपनी सार्वजनिकता का क्षेत्र बढ़ा डालती है। कबीर की अनेक पंक्तियों, वेमना की अनेक पंक्तियों या बंकिमचन्द्र के वन्देमारम् या रवीन्द्र के जन मन गण के रूप में सभी भाषाओं की वाणी बन जाती है।

भाषाओं के बीच समतुल्यता का स्वप्रलोभ अनुवाद और सृजन दोनों रचते हैं। इस दृष्टि से यदि हम अनुवाद की ज़रूरत को प्रासंगिकता जैसे छोटे-छोटे प्रयत्न से बाँधेंगे तो अनुवाद और सृजन के महत्तम अर्थों से भूलने लगेंगे अतः बहुभाषी भारत के ही दृष्टान्त से हम प्रकार्यात्मक, प्रयोजननीय तात्कालिकता को तो हासिल कर सकते हैं किंतु अनुवादन जैसी नैसर्गिक प्रक्रिया जो सृजन के निसर्ग से ही उभरती है -- उसके विकास की मानवीय तस्वीर को नहीं आंक पायेंगे। इसलिए कि मनुष्य विवेक ने भाषाओं का आविष्कार सहसा नहीं किया अपितु दीर्घ परियार्जनों, दीर्घ संवादों और लंबे विमर्शों ने आज भारत के संदर्भ में यह प्रस्तावित करने का बौद्धिक आधार जुटाया है कि हम कह सकें कि भारतीय भाषाएँ एक भाषिक संसार बनाने वालों के लिए बार-बार चिन्तन की सामग्री हैं कि कैसे नैसर्गिक या स्वायत्त अनुवादन प्रक्रिया से सृजन का एक सार्वभौमिक सार्वलौकिक भाषिक वितान निर्मित हो सकता है।

भविष्य के अनुवादकों और भाषा शास्त्रियों के सन्मुख यह विचारणीय प्रश्न सामने आता है कि क्या तकनीकी, यांत्रिक अनुवाद ही अंतिम लक्ष्य है या इसके अतिरिक्त भी कोई दिक्-कालिक ज़रूरत है जो मनुष्य को संपूर्ण संप्रेषण की ओर उन्मुख करती है ? हम भले ही यंत्रारूढ भाषिक परिवर्तनों और प्रस्तुतियों के सामने अनुवाद से ही अपनी प्रयोजन का भी इच्छा पूरी कर अभी, तत्काल संतोष प्राप्त कर रहे हों -- परंतु क्या यह उस व्यापक असंतोष का ही हिस्सा नहीं है जिससे हम यह जानने के लिए बेचैन हैं कि हमें आगामी किसी भविष्य में बिना बैसाखियों के एक दूसरे तक पहुँचाने का रास्ता निर्मित करना है। अनुवाद के रूप में तो अभी हम उसकी पहली सीढ़ी पर आरूढ हो रहे हैं -- सिर्फ पहली सीढ़ी ?